

स्वतंत्र न्यायपालिका,हितधारक समूह और नियमों का औचित्य Independent Judiciary, Interest Groups, and a Reason for Rules

श्रुति राजगोपालन
Shruti Rajagopalan
April 22, 2013

आज भारत में सार्वजनिक हित के मामलों को तभी महत्व मिलता है जब उच्चतम न्यायालय इस पर ज़ोर डालता है. सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार के हितधारकों के प्रतिनिधि न्यायपालिका में सक्रिय होकर याचिका दाखिल करते हैं. किसी भी विषय पर होने वाले वाद-विवाद से भारतीय न्यायपालिका को महत्व मिलता है और वह सक्रिय भी बनी रहती है. एक ऐसे युग में जहाँ अधिकांश संस्थाओं पर राजनीति हावी होने लगी है, न्यायपालिका ही एकमात्र संस्था बची है जिस पर नागरिकों का विश्वास अभी भी कायम है और उन्हें लगता है कि वहाँ उनकी सुनवाई ठीक तरह से हो सकती है.

लेकिन हमेशा ऐसा नहीं रहा है. भारतीय संविधान का इतिहास बिल्कुल अलग किस्म के दो तथ्य हमारे सामने रखता है, एक तथ्य है 1950-80 का, जब संसद अलग-अलग हितधारकों की युद्धभूमि बनी हुई थी और दूसरा तथ्य है 1980 के बाद का, जब उच्चतम न्यायालय सभी हितधारक समूहों के लिए आशा की अंतिम किरण बन गया था. हितधारक समूहों के कार्यकलाप संसद से हटकर न्यायपालिका में कैसे स्थानांतरित हो गए? इस विषय में जो भी कानूनी विश्लेषण हुआ है, वह केवल उन विशेष मामलों, ऐतिहासिक घटनाओं और कुछ व्यक्ति विशेषों तक ही सीमित रहा है, जिनके कारण सार्वजनिक हित की याचिकाओं के माध्यम से न्यायपालिका सक्रिय हुई है. आज़ादी के बाद के पहले के कुछ दशकों में अर्थशास्त्रियों ने कार्यपालिका की आपेक्षिक शक्ति और न्यायपालिका की कमज़ोरी की चर्चा की है. परंतु इस परिवर्तन को तभी अच्छी तरह से समझा जा सकता है, जब भारत की विभिन्न संस्थाओं द्वारा प्रदत्त और नियमों में किये गये प्रावधानों के अनुरूप दी गयी प्रोत्साहन राशि का विश्लेषण किया जाए. न्यायपालिका द्वारा अधिरोपित लागत और लाभ के विभिन्न प्रकार के संयोजनों की भूमिका से उच्चतम न्यायालय के बढ़ते वर्चस्व का अंदाज़ा लगाया जा सकता है.

सन् 1950 में जब संविधान को स्वीकार किया गया था तो संविधान के भाग III में गारंटीकृत इसके मज़बूत राजनीतिक और आर्थिक मूलभूत अधिकारों पर बहुत गर्व का अनुभव हुआ था. दूसरी ओर संविधान में विशेषकर मूलभूत अधिकारों में संशोधन करना अपेक्षाकृत सरल था, जिसके लिए प्रत्येक सदन का बहुमत और सदन में उपस्थित दो-तिहाई का कोरम और मतदान और भारत के संविधान के अनुच्छेद के 368(2) के अनुसार राष्ट्रपति का अनुमोदन ही अपेक्षित था. .

स्वतंत्रता के बाद नेहरू की सरकार समाज को समाजवादी स्वरूप और अर्थव्यवस्था को केंद्रीय नियोजन का ढाँचा प्रदान करना चाहती थी. भूमि के पुनर्वितरण का अनुसरण करने और अनिवार्य वस्तुओं के मूल्य और गुणवत्ता पर नियंत्रण से जुड़े विभिन्न हितधारकों ने संसद में और राज्य की विधानसभाओं में विधेयक पारित कराने के लिए बहुत प्रचार किया. व्यापक स्तर पर संपत्ति को स्थानांतरित करने और मूल्य और गुणवत्ता से

जुड़े अनेक कानून पारित किये गये, लेकिन मूलभूत अधिकारों का, विशेषकर संविधान के अनुच्छेद 14, 19 और 31 का उल्लंघन मानते हुए असंवैधानिक घोषित कर दिया.

न्यायपालिका द्वारा मज़बूत मूलभूत अधिकारों को लागू करने से हितधारकों के पास दो ही विकल्प रह गये थे: मज़बूत मूलभूत अधिकारों में संशोधन लाने के लिए संसद में लॉबी बनाकर प्रचार किया जाए ताकि संपत्तियों का स्थानांतरण सुगम हो सके या विशिष्ट असंवैधानिक नीति का परित्याग किया जा सके. यहाँ संपत्तियों के स्थानांतरण को सुगम बनाने के लिए मूलभूत अधिकारों में संशोधन का लाभ हितधारकों को मिलता है, जबकि औपचारिक संशोधन की कार्यविधि का संबंध उस लागत से है जिसका सामना ऐसे हितधारकों को करना होता है.

नियमों के ढाँचे को देखते हुए हितधारकों ने पाया कि मज़बूत मूलभूत अधिकारों को लागू करने वाली न्यायपालिका कहीं अधिक कट्टर है और उसकी लागत भी बहुत आती है. इसलिए उन्होंने संपत्ति के स्थानांतरण की अपेक्षाकृत सरल कार्यविधि को चुना, क्योंकि संपत्ति का स्थानांतरण और मूल्य और गुणवत्ता के नियंत्रण के माध्यम से लाभ की अपेक्षा करना उन्हें अधिक उपयुक्त लगा. संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम 1951 “सामान्यतः ज़मींदारी के उन्मूलन के नियम को और विशेषकर राज्यों के कुछ विशिष्ट अधिनियमों को संवैधानिक मान्यता प्रदान करने के लिए” पारित किया गया था, जिसे न्यायपालिका ने मूलभूत अधिकारों का उल्लंघन मानकर असंवैधानिक घोषित कर दिया था.

जब न्यायपालिका ने संपत्ति के स्थानांतरण और लाभ को रोककर मज़बूत मूलभूत अधिकारों को लागू किया तो संसद ने संवैधानिक संशोधनों के लिए दो प्रकार के विधेयक पारित कर दिये. एक में संसद ने मूलभूत अधिकारों को न्यायिक समीक्षा से मुक्त कराने के लिए नवीं अनुसूची में असंवैधानिक विधेयक जोड़ दिया. दूसरे में संसद ने न्यायपालिका के दखल को कमज़ोर बनाने के लिए मूलभूत अधिकारों के साथ-साथ उसे अपवाद भी बना दिया.

1950-80 के बीच संसद ने मूलभूत अधिकारों को अपवाद बनाते हुए संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से मूलभूत अधिकारों को बारह गुना कमज़ोर बना दिया. पहले, चौथे, सत्रहवें, चौबीसवें, पच्चीसवें, उनतीसवें, उनतालीसवें, चालीसवें, बयालीसवें, तिरतालीसवें और चवालीसवें संशोधनों के ज़रिये विशेषकर निजी संपत्ति के अधिकार को असंवैधानिक विधेयक की मान्यता प्रदान करने के लिए मूलभूत अधिकारों में संशोधन कर दिये गये. चवालीसवें संशोधन ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए कि संपत्ति के स्थानांतरण और लाभ से भारत के मार्गदर्शी समाजवादी उद्देश्यों को प्रभावी बनाते हुए मूलभूत अधिकारों के वर्चस्व को पूरी तरह से समाप्त कर दिया है. इसे उन स्थलों पर भी जहाँ उनकी टकराहट मूलभूत अधिकारों से होती है, वहाँ भी वैध नहीं माना गया है. इस पर आखिरी चोट चवालीसवें संशोधन से पड़ी, जिसने अनुच्छेद 31 को निकाल दिया और अब निजी संपत्ति के अधिकार पर संविधान की कोई गारंटी नहीं रह गयी है.

मूलभूत अधिकारों को व्यवस्थित रूप में कमज़ोर किये जाने से बहुत-से अपवाद पैदा हो गये और न्यायपालिका द्वारा इन अधिकारों की व्याख्या के लिए बहुत गुंजाइश हो गयी. इसका अर्थ यह हुआ कि न्यायालय को अब केवल उन्हीं स्थानांतरणों पर विचार करने की अनुमति है जिन्हें पहले असंवैधानिक घोषित

किया गया था. संपत्ति के स्थानांतरण और लाभ से संबंधित अधिकाधिक मामलों में संवैधानिक मान्यता मिलने के कारण संसद में मूलभूत अधिकारों में संशोधन लाने की हितधारक समूहों की माँग धीमी पड़ने लगी है.

मूलभूत अधिकारों में बार-बार संशोधन होने से न्यायपालिका संविधान में सुधार लाने की संसद की शक्ति की पुनरीक्षा कर रही थी. केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (एआईआर1973 एससी1461) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने संविधान के बुनियादी ढाँचे को असंशोधनीय घोषित करके संसद की संशोधन करने की शक्ति को सीमित कर दिया. यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने बुनियादी ढाँचे के स्वरूप की कोई व्यापक सूची तो नहीं दी, लेकिन यह व्यवस्था ज़रूर दी कि बुनियादी ढाँचे के उल्लंघन के सवाल की समीक्षा करने का अधिकार न्यायपालिका को है. प्रभावी रूप में न्यायपालिका ने संवैधानिक संशोधन पर ऐक्स-फैक्टो आधार पर वीटो निर्मित कर दिया. संक्षेप में चूँकि संवैधानिक संशोधनों को अदालतों में लगभग चुनौती दी जाने लगी थी, इसलिए इस न्यायिक व्यवस्था का अर्थ यह था कि यह सुनिश्चित करने के लिए कि ये संशोधन बुनियादी ढाँचे के परीक्षण पर खरे उतरते हैं, संशोधनों के लिए न्यायपालिका का अनुमोदन अपेक्षित था. चूँकि संसद अकेले अपने दम पर न्यायपालिका के सहयोग के बिना मूलभूत अधिकारों में संशोधन लाने में सक्षम नहीं रही, इसलिए संशोधनों के पारित होने में काफ़ी बाधाएँ आने लगीं. सन् 1980 में मिन्वा मिन्स लिमिटेड (एआईआर1980 एससी 1789) और वामन बनाम भारतीय संघ (एआईआर 1981 एससी 271) के मामले में इस व्यवस्था के नज़ीर बन जाने से यह व्यवस्था और भी पक्की हो गयी और अब तो यह एक महत्वपूर्ण नज़ीर बनी हुई है.

इसके परिणामस्वरूप सन् 1980 के बाद औपचारिक तौर पर संसद में संविधान में संशोधन लाना (बुनियादी ढाँचा परीक्षण के कारण) और भी महँगा हो गया और नये संवैधानिक संशोधनों के लाभ भी सीमित हो गये और पिछले दशकों में बार-बार संशोधन लाये जाने के कारण मूलभूत अधिकार कमज़ोर पड़ते चले गये, जिसका कारण न्यायपालिका की व्याख्या को लिए कहीं अधिक गुंजाइश हो गयी. अंततः 1980 के दशक से अपेक्षाएँ भी कम होने लगीं और अदालत में हितधारकों का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रवेश बाधाओं में भी कमी आने लगी. इन सभी कारणों से संसद की तुलना में न्यायपालिका हितधारक समूहों के लिए कम खर्चीली जगह हो गयी.

हितधारक समूहों की दृष्टि से संवैधानिक ढाँचे के बाहर न्यायपालिका की स्वतंत्रता और सक्रियता की आज की बहस अब बेमानी हो गयी है. जहाँ उच्चतम न्यायालय मज़बूती से मूलभूत अधिकारों को लागू कर रहा है, वहाँ हितधारक समूह संविधान में सुधार लाने के लिए कार्यविधि के कमज़ोर नियमों का लाभ उठा सकते हैं और संसद को इसका आर्थिक लाभ मिल सकता है. जहाँ संवैधानिक ढाँचे के अंतर्गत कमज़ोर मूलभूत अधिकार हों और संविधान में संशोधन लाने की प्रक्रिया कठिन हो, वहाँ न्यायपालिका हितधारक समूहों की युद्धभूमि बन जाती है और राजनीति उस पर हावी हो सकती है.

हमें एक ऐसे नये संवाद की ज़रूरत है जहाँ न्यायपालिका द्वारा लागू किये जाने वाले संवैधानिक नियमों के ढाँचे में इसकी भूमिका को समझा और जाँचा जा सके. यह स्पष्ट है कि मज़बूत मूलभूत नियमों और संविधान में संशोधन के लिए अपेक्षित कार्यविधि के मज़बूत अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायपालिका लाभ और संपत्ति का स्थानांतरण चाहने वाले विशेष हितधारकों पर लागत लगा सकती है. संवैधानिक सुधार की प्रक्रिया को सुगम बनाने के लिए, विशेषकर मूलभूत अधिकारों को मज़बूत बनाने और उन्हें बनाये रखने के लिए शायद हम यह माँग कर सकते हैं कि संसद एक बार फिर से संवैधानिक संशोधन करे, लेकिन बेहतर उद्देश्यों के लिए.

श्रुति राजगोपालन न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग, में ब्रैंडले बिज़िटिंग छात्र हैं. वे इस समय “भारतीय संविधान में संशोधनों का आर्थिक विश्लेषण” विषय पर डॉक्टरेट के लिए अपना शोधप्रबंध लिख रही हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>